

ब्रह्मवादी सहिष्णुता

[१. “मेरी वाणी प्राण नयन कान बल और सारी इन्द्रियां तथा अंग तृप्त रहें ! औपनिषद् ब्रह्म ही तो सभी कुछ है. अतः न तो कभी मैं ब्रह्मका निराकरण करूं और न ब्रह्म ही मेरा कभी निराकरण करे, ऐसा परस्पर अनिराकरण दोनोंके बीच सिद्ध हो ! आत्मा इस तरह जब निरत हो पाती है तो उपनिषदोंमें जिन ब्राह्मिक धर्मोंका निरूपण किया गया है, वे मेरे भीतर भी प्रकट हो पायेंगे ! ॐ ! कायिक शान्ति, वाचिक शान्ति और मानसिक शान्ति प्रकट हो जाये !” (केनोप.शां.पा.)^१.

२. “अन्धकार और विरोधाभास से ग्रस्त हो जानेकी दिशामें मानवीय तर्क सत्वर तत्पर रहता है... क्योंकि जिन धारणाओं या सिद्धान्तों का वह उपयोग करना चाहता है, वे अनुभवोंकी मर्यादाओंसे अतीत होते हैं. वे हमारे इन्द्रियजन्य अनुभवोंपर आश्रित निरीक्षण या परीक्षण के विषय बन नहीं पाते. यों इन अन्तहीन विवादोंकी युद्धभूमिको ही ‘पराभौतिकी’ या ‘तत्त्वशास्त्र’ कहा जाता है. एक समय था कि जब पराभौतिकी सभी विज्ञानोंकी महारानी मानी जाती थी... अब तो समयके दिशा बदलते प्रवाहके वश इस भद्र महिलाके प्रति तिरस्कारका अतिरेक बढ़ गया होनेसे वह हेकुबाकी तरह विलाप करती सी लगती है कि “मैं अपने यशकी गरिमाके शिखरपर अनेक पुत्रोंके रहते भी निर्वासित भटक रही हूँ” (‘शुद्ध-उपपत्तिमीमांसा’के प्रथम संस्करणके उपोद्घातमें इमानुएल कान्ट)]

(१)

जर्मनीके महान् दार्शनिक इमानुएल् कान्टने बाह्य पदार्थ या वस्तु को अज्ञेय; जबकि, यथावभात वस्तुको हमारे भीतर वस्तुके अवभासनकी जो अपरिहार्य कारणसामग्री उपलब्ध रहती हैं, उनकी मर्यादाओंके अनुसार ही अवभासित होती होनेसे ऐसे अवभासनका याथार्थ्य अशक्य मान लिया है.

यहां यह विचारणीय लगता है कि बाह्य पदार्थ या वस्तु के बारेमें जैसी धारणा हम घड़ते हैं, बाह्य वस्तुका सर्वथा तदनुरूप होना अथवा हमारी अनुभूतियोंका ही बाह्य वस्तुओंके सर्वथा अनुरूप होना निश्चित हो भी सकता है और नहीं भी. फिरभी बाह्य पदार्थोंके साथ स्वयं हमारे दैनन्दिन व्यवहारोंके उदाहरणोंमें अपनी अभिलाषा अपेक्षा आवश्यकता या योजना के अनुरूप क्या हम बाह्य वस्तुओंका आविष्कार पुनर्निर्माण परिवर्तन या परिवर्धन कर नहीं पाते क्या ! वस्तुतः तो आधुनिक विज्ञानकी विविध शाखाओंने इस दिशामें नित्य-नूतन वैज्ञानिक अन्वेषण और नित्य-नूतन आविष्कारों द्वारा मानवीय चेतनाको न केवल चकित प्रत्युत झकझोर सा ही दिया है. अतः हमारी चेतनाके अन्यतम व्यापार अभिलाषा अपेक्षा आवश्यकता या योजना के अनुरूप यदि बाह्य पदार्थ प्रकट हो पाते हों या घड़े जा सकते हों तो, उसी चेतनाके अन्यतम आयामरूप अनुभूति या अवधारणा रूपी व्यापारोंको बाह्य पदार्थानुरूप स्वीकार लेनेमें भी, किसी तरहकी आपत्ति तो उठनी नहीं चाहिये. यह अनुभूतिरूप या अवधारणारूप चेतनाव्यापार जैसे वस्तुतन्त्र हो सकता है वैसे ही अनुभूतिकी जनक जो कारणसामग्री होती हैं उनके आधीन औपाधिक भी हो सकता है. हमारी अभिलाषाके अनुरूप बाह्य पदार्थोंके ढल पानेकी केवल एक हकीकत ही, स्वयं बाह्य पदार्थ और आन्तरिक अवधारणाओं के बीच मानी जाती तथाकथित ऐकान्तिक अननुरूपताको अप्रामाणिक सिद्ध कर देती है.

कौन नहीं जानता कि प्रारम्भमें अनवगत परन्तु बादमें न केवल भलीभांति अन्विष्ट; प्रत्युत, मेंदलेव सदृश वैज्ञानिकों द्वारा सभीके इलेक्ट्रॉन्स् न्यूट्रॉन्स् एवं प्रोटॉन्स् के विविध आणविक भारोंकी सारणीद्वारा सुव्यवस्थापित

प्रकृतिसिद्ध १४ तत्त्वोंके आईसोटोप्सके अलावा भी संप्रति वैज्ञानिकों द्वारा कृत्रिम १४ या १५ आईसोटोप्स, मस्तिष्कके भीतर केवल प्रत्ययोंके रूपमें नहीं प्रत्युत प्रकृतिसिद्ध अन्यान्य तत्त्वोंकी तरह ही मस्तिष्कसे बाहर विद्यमानतया स्वीकारे गये हैं अथवा प्रकट किये गये हैं.

माइक्रोस्कोपिक सूक्ष्मतम संरचनावाले एककोशीय जीवाणु रासायनिकाणु भौतिकाणु जैसे पदार्थोंकी तरह, सुदूरतर बाह्य अवकाशमें अवस्थित टेलिस्कोपिक स्थूलतर ब्रह्माण्ड कृष्णविवर तारा उल्कापिण्ड जैसे पदार्थोंको भी; अथवा, हमारे भीतर ज्ञानोपकरणतया भरी हुयी सामग्रियोंकी संरचनाओंको भी पहले कभी हम तदोपलब्ध ज्ञानोपकरणोंके सहारे तो कथमपि जान नहीं पाते थे.

नेत्रपटल भी तो, अपनी प्रतिबिम्बग्राहिणी संरचनाके आधीन, दृष्टिगोचर होनेवाले बाह्य पदार्थोंको दिशाव्यत्यय द्वारा, अर्थात् दृष्यवस्तुके उपरी भागको नीचे और दायें भागको बायें ही, गृहीत करता है. फिरभी मस्तिष्क उसे बाह्य देशमें यथावस्थित ही प्रदर्शित करता है, नकि अपरिहार्य ज्ञानोपकरणोपहित दृश्यरूपकी आभासित रीतिके अनुसार.

वैसे आज तो ऐसे सभी बाह्य पदार्थोंको जान पानेके अनेकविध वैज्ञानिक उपकरण, नामतः, एकसरे इन्फ्रारेड-वेव्स अल्ट्रावायोलेट-वेव्स सोनोग्राफी एम.आर.आई. माइक्रोस्कोप टेलीस्कोप राडार आदि भी आविष्कृत हो चुकें हैं. इन नूतन आविष्कृत उपकरणोंके कारण ज्ञानोपकरणकी सामग्रियोंकी कार्यप्रणाली, उनके मस्तिष्कान्तर्वर्ती केन्द्रों या नाड़ियों की तरह उनमें प्रयुक्त होनेवाले जैवरसायनों, आदिका भी इदमित्थं ज्ञान प्राप्त होने लगा है. न केवल इतना अपितु उनके भलीभांति कार्यक्षम न हो पानेपर जेनेटिकल पुनर्निर्माण भी दिनानुदिन शक्य बनता जा रहा है. इससे आगे बढ़ कर इन जैविक ज्ञानोपकरणकी सामग्रियोंके अनुकरण द्वारा अजैविक डिजिटल तकनीकी जड़यन्त्र आंख तरह काम करते डिजिटल केमेरा, कानकी तरह काम करते माईक, मुखकी तरह काम करनेवाले स्पीकर, नाककी तरह गन्धग्राही उपकरण, मस्तिष्कके विचारोंको पढ़-जान पानेवाले उपकरण, चरण, हस्त आदि भी आविष्कृत हुवे हैं.

अतः स्वयं अज्ञेयवाद, अर्थात् एग्नोस्टिसिज़्म, ही अपनी अनेकानेक अकाट्य उपपत्तियोंके साथ महारानी हेकुबाकी तरह विलाप करता सा अब प्रतीत होने लगा है !

अतएव वस्तुतः तो बाह्य पदार्थके अंशात्मना या पूर्णतया अज्ञेय होनेकी अवधारणा भी, दोनोंके बीच किसी न किसी तरहके आदान-प्रदानात्मक अन्तर्व्यवहारका सबल प्रमाण मानी जानी चाहिये; बाह्य पदार्थके अज्ञेयतया समवधारित होनेके कारण ही. अतएव आत्यन्तिकी अननुरूपता या इतरेतरासहिष्णु विसंवादिता युक्तिसंगत नहीं लगती है.

निष्कर्षतया कहा जा सकता है कि विज्ञानतया अभिमत अनेकविध विद्याओंकी महारानी पराभौतिकीका, हेकुबाकी तरह अकारण, विलाप करते रहनेका अब कोई औचित्य शेष नहीं रह गया है. फिरभी पराभौतिकीके लिये भी, अपने प्रशास्य प्रदेशोंकी परिधिओं या परिसीमाओं का प्रशासनौपयिक निःसन्देह आकलन कर लेना आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य हो गया है. अतः अनेक पुत्रोंके विद्यमान रहनेपर भी, निर्वासित होनेकी आत्मग्लानि या कुण्ठा से अकारण त्रस्त या ग्रस्त होनेके बजाय विकसमान अद्यतन विविध विज्ञानोंके सूचनोंको दत्तकविधानकी प्रक्रियाद्वारा अपने पुत्रतया मान्य करनेका औदार्य उसे प्रकट करना चाहिये. तभी वह सर्वविध त्रास एवं कुण्ठा से मुक्ति पा सकेगी !

(२)

अपने देशमें भी, जर्मनदेशीय इमानुएल् कान्टकी तरह ही, तत्त्वमीमांसाके क्षेत्रमें यद्यपि केवलाद्वैतवादका परन्तु प्रामाण्यमीमांसाके क्षेत्रमें द्वैतवादका अवलम्बन करनेको भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यने भी -

“कर्म, लौकिक हों या वैदिक, उन्हें करना हो तो किया जा सकता है, न करना हो तो न भी करना शक्य है; और इसी तरह किसी अन्यथा प्रकारसे करना हो वह भी शक्य है. यों तीनों प्रकारके विकल्प शक्य होते हैं... ऐसे, किन्तु, वस्तुके बारेमें होने न होने या अन्यथा भी होनेके विकल्प शक्य नहीं. विकल्पना तो, क्योंकि, पुरुषकी बुद्धि अपेक्षाके अनुसार ही होती है. किसी भी वस्तुके याथात्म्यका ज्ञान जबकि पुरुषकी बुद्धिकी अपेक्षा नहीं रखता. तो उसे क्या अपेक्षा रहती है ? वह तो केवल वस्तुके आधीन ही उत्पन्न होता है... इसी तरह पूर्वसिद्ध वस्तुओंके अनुभवका भी प्रामाणिक होना वस्तुओंके आधीन ही होता है” ?

ऐसे प्रतिपादनोंमें चेतनाशील पुरुषके लिये निजकर्तव्यका प्रमाबोध किसी कर्मको करने, न करने अथवा अन्यथा करने के बौद्धिक संकल्पके अधीनतया मान्य किया है. इसके विपरीत बाह्य वस्तुके याथार्थ्यके अवबोधमें बुद्धितन्त्रताके बजाय वस्तुतन्त्रताका सिद्धान्त प्रस्तुत किया है. यों प्रमाणमीमांसामें द्वैतवाद पुरस्कृत किया सिद्ध हो जाता है.

इस सन्दर्भमें यह अवधेय है कि वस्तुतः तो चेतनाशील पुरुषमें भी स्वभावजन्य, अथवा आधुनिक शरीरशास्त्रीय परिभाषाके अनुसार कहना हो तो ओटॉनोमस् नर्वस् सिस्टम्के कारण, उदाहरणतया, श्वासोच्छ्वास, शयनावस्थामें पार्श्वपरिवर्तन, पक्ष्मपातन, जागरण, रोदन-हास्य, नाडिओंमें रक्ताभिसंचरण इत्यादि अनेकविध क्रियायें बौद्धिक संकल्पके बिना ही सजीवशरीरके स्वभाववश भी प्रकट होती दिखलायी देती हैं. अतः शरीरोद्भूत क्रिया अथवा कार्यों का बौद्धिक संकल्पसे नियततया जन्य होना ही विवादके घेरेमें घिरा हो तब उनके कर्तव्य अकर्तव्य या अन्यथाकर्तव्य होनेका प्रमाबोध भी संकल्पमूलक कैसे रह पायेगा ?

इसी तरह भूकम्प बाढ़ अंधड़ आदि प्राकृतिक प्रभावोंके वश असंकल्पित, उदाहरणतया, गिरना बहना चलते-चलते अचानक ऊपर उड़ जाना आदि, क्रियायें शरीरमें प्रकट होती ही हैं. इन क्रियाओंमें ग्रस्त शरीरी अपने खण्डित अहंकारवश उन्हें असंकल्पित क्रिया मानता हो तो माने परन्तु “मैं गिर रहा हूँ - मैं बह रहा हूँ - मैं उड़ रहा हूँ” ऐसी अनुभूतियोंका शरीरमें प्रकट होना तो इन्कारा नहीं जा सकता है. इसी तरह शरीरको प्रभावित करनेवाले शीतातपवर्षाजन्य रोग आदि हेतुओंके प्रभाववश भी, उदाहरणतया, अंगकम्पन वमन अतिरेचन प्रलाप आदि अनेकविध क्रिया बिना ही किसी संकल्पके ही हमारे शरीरमें प्रकट होती दिखलायी नहीं देती क्या ? ऐसी स्थितिमें इन अनेकविध क्रियाओंके बारेमें हमें न तो संकल्पजन्यता और न कर्तव्यताका ही बोध होता है. अतः भूतवस्तु न होनेपर भी इन क्रियाओंमें भी वस्तुतन्त्र प्रमाबोध स्वीकारना ही पड़ता है.

ऐसी स्थितिमें समान शरीरमें कुछ क्रियायें संकल्पित होती हैं तो बहोत सारी क्रियायें असंकल्पित भी होती हैं, ऐसा अर्धजरतीयन्याय स्वीकार लेना ही युक्तिसंगत लगता है.

न केवल इतना प्रत्युत प्रत्यक्षावभासन भी, कुछ उदाहरणोंमें, संकल्पतन्त्र होता है तो अन्य कुछ उदाहरणोंमें वस्तुतन्त्र भी. असंकल्पित प्रत्यक्षोंके उदाहरणतया जैसे विद्युत्प्रकाशनमेघगर्जन आदिकी चाक्षुष या श्रावण प्रत्यक्षानुभूति वस्तुतन्त्रतया प्रकट होती हैं, वैसे ही इच्छाजन्य या प्रयत्नजन्य क्रियायें भी प्रकट होती ही हैं. क्योंकि

मुखके असंकल्पित प्रत्यक्षावभासनके कालमें भी केवल नासिकादर्शन नयनगोलकदर्शन कपोलचिबुक आदिमें अवस्थित तिलकालक के संकल्पजन्य दर्शन या एकाग्र अनुदर्शन सुकर होते ही हैं। इन उदाहरणोंमें अक्रियारूप अर्थात् ज्ञानरूप होनेपर भी संकल्पतन्त्रता सर्वजनविदित सन्देहातीत तथ्य है। इसी तरह गीतश्रवणकालमें भी षड्जादिस्वरश्रुतिओंका भलीभांति एकाग्र अनुश्रवण भी, इच्छा संकल्प या प्रयत्न के वश, होता भी पाया जाता है। भूमि आदिपर समुपवेशनके समय भूमि आदिमें अवस्थित तीक्ष्ण कण्टक आदिकी तीक्ष्णताका स्पर्शन आकलन भी इच्छा या प्रयत्न के कारण ही शक्य हो पाता है।

अतः शरीरमें प्रकट होनवाली सभी क्रियायें न तो कर्तव्यतया अभिप्रेत होती हैं न अकर्तव्यतया ही; और, न ज्ञान ही अपने सर्वविध प्रकारोंमें सर्वदा अचिकीर्षित या अकर्तव्य होनेके कारण वस्तुतन्त्रतया ही प्रकट होता है।

अतः क्रियाबोधकी केवल संकल्पतन्त्रता और रूपादिबोधकी केवल वस्तुतन्त्रता के द्वैतके बारेमें भी औत्सर्गिक या आपवादिक विषयव्यवस्था अपेक्षित है ही। अतः इस विषयमें कोई साधारण नियम घड़ा या स्वीकारा नहीं जा सकता है। वेदके संहिता ब्राह्मण एवं उपनिषदों में भी, अतएव, प्रजापति विष्णु अग्नि आदि यज्ञदेवताओंको तथा ब्रह्मको सिद्ध तथा साध्य उभयरूप स्वीकारा गया है :

क. “जो भी कोई सतरह प्रकारके प्रजापतिको यज्ञमें अनुगत स्वीकार पाता है”.

ख. “वह (प्रजापति) यज्ञ बन कर यज्ञका कारण स्वयं ही बना”, “विष्णु यज्ञरूप भी है और यज्ञदेवता भी”.

ग. “नाम रूप कर्म वैसे तो तीन होते हैं... ब्रह्म किन्तु इन सभी नामोंका... रूपोंका... कर्मोंका भरण करता है।

अतः ये तीन होनेपर भी आत्माके रूपमें एक होते हैं। इसी तरह आत्मा भी एक होनेपर भी तीन होती है...”^३

अतः क्रिया एवं ज्ञान के बीच पुरस्फूर्तिक रूपमें यद्यपि परस्पर ‘अस्ति-भवति’, अर्थात् Being-Becoming, के जैसा प्रभेद या तारतम्य प्रकट होता है। परन्तु स्वयं ‘अस्ति’(Being) ही तो कालप्रवाहकी क्षणरूप उपाधियोंमें प्रकट हो जाता है इसके अलावा ‘भवति’(Becoming) और क्या है? यदि अपने घरकी खिड़कीमेंसे बाहर दिखलायी देते असीम आकाशको केवल खिड़कीकी सीमामें दिखलायी देनेके अपराधवश भिन्न या खण्डित न मानना हो तो। अतएव महर्षि यास्क निरुक्तनिघन्टुमें कहते हैं :

“क्रियापदमें प्रधानता भाव (अर्थात् अस्थिर क्रिया होने) की होती है। नामपदमें, जबकि, प्रधानता स्थिर सत्ताकी होती है... सत्तावान् पदार्थोंका निर्देश ‘यह गाय है’, ‘यह घोड़ा है’, ‘यह पुरुष है’ ‘यह हाथी है’ ऐसा (अंगुलीनिर्देशपूर्वक) किया जाता है। इसके विपरीत भावका निर्देश ‘यह हो रहा है’ इस तरहके शब्दोंमें ‘बैठ रहा है’- ‘सौ रहा है’- ‘जा रहा है’- ‘खड़ा हो रहा है’ ऐसे किया जाता है... इस भावके छह विकार होते हैं, ऐसा वाष्यायणि ऋषिका अभिप्राय है : ‘पैदा होता है’, ‘है’, ‘विपरिणत होता है’, ‘बढ़ता है’, ‘घटता है’ और ‘विनष्ट हो जाता है’... इनके अतिरिक्त जो भी कोई विकार होते हैं, उन्हें भी इन्हीं विकारोंमें अन्तर्भूत समझ लेना चाहिये, ऐसा वाष्यायणने कहा है”^४

अतएव ब्रह्मको नित्य निर्विकल्प मान लेना, क्योंकि विकल्प तो क्षयिष्णु कर्मोंमें ही शक्य हो सकते हैं, यह धारणा मूलमें भगवद्गीताके “कर्ममें, यदि, ऐसी ब्रह्मसमाधि सिद्ध हो जाये तो अर्पण भी ब्रह्मरूप हो जाता है, हवि भी ब्रह्मरूप, अग्नि भी ब्रह्मरूप, अर्पणकर्ता भी ब्रह्मरूप और जिसे अर्पण किया जाता है वह भी ब्रह्मरूप है”^५ वचनसे विपरीत प्रतीत होती है। क्रियोपकारक कर्ता कर्म करण सम्प्रदान और अधिकरण रूपी पांच कारकोंसे सम्पन्न होती क्षयिष्णु क्रिया भी उसके सभी कारकोंमें ब्रह्मभावदृष्टि रख कर अनुष्ठित हो पाती हो तो वह

क्षयिष्णु होनेके बजाय अक्षय ब्रह्मात्मिका कर्मसमाधि बन जाती है, ऐसा भगवद्गीता तो आश्वासन प्रदान करती ही है. अतः अकारण ही कर्मके वास्ते अब्रह्मबुद्धिके वश असहिष्णु बरताव नहीं करना चाहिये.

(३)

अस्तु. मस्तिष्कविज्ञानकी अभी तक विकसित शाखाने पराभौतिकी द्वारा प्रशासित जिन प्रदेशोंको पदाक्रान्त बनाया है, वह सजीव प्राणिओंमें प्रकट होती स्वाभाविक या प्राभाविक क्रियाओं एवं संवेदनाओं का क्षेत्र है. इस क्षेत्रमें निरीक्षण तथा परीक्षण प्रचुर हुवे हैं. शारीरिक क्रिया या संवेदना क्षेत्रोंके विमर्शमें मस्तिष्कके भीतर अवस्थित विभिन्न केन्द्रोंके नक्शोंके निर्माण तथा उनके अनुकरण द्वारा वैसे जड़ या जैविक यन्त्रोंका भी निर्माण एवं प्रयोग, पराभौतिकी तत्त्वशास्त्र द्वारा प्रशासित प्रदेशोंको हथिया लेनेके वास्ते, आधुनिक विज्ञानका सर्वथा अद्यतन पादक्षेप यह है. सफल होनेपर आधुनिक विज्ञान पराभौतिकी तत्त्वशास्त्रका सहयोगी ही बनेगा या विरोधी ही, इस बारेमें आशावादी या निराशावादी बनना एक वैचारिक धांधली मुझे अभी लगती है.

कलानुभूति या कलाविष्कृति, नैतिक कर्तव्यबोध या कर्तव्यानुष्ठान अथवा किन्हीं विषयोंमें धार्मिक आस्था या तदनु रूप धर्मानुष्ठान को सम्पन्न करनेवाले मस्तिष्कके भीतर रहे बोधकेन्द्र या आदेशकेन्द्र वहां कहांपर अवस्थित हैं, उनमें अपने कार्यको सम्पन्न करनेमें किस प्रकारके वैद्युतरसायनिक परिवर्तन आते हैं, इन सारी बातोंसे जुड़े परीक्षणोंमें पराभौतिकी-प्रशासित क्षेत्रोंका बलाद् अधिग्रहण कर उन्हें निज अंकुशमें लानेको आधुनिक विज्ञानने दुर्दम पराक्रम प्रकट किया है. पर यह तो सजीव प्राणीकी चेतनाके विकासके प्रायः सभी सोपानपर अभी ही नहीं सदा-सर्वदा चलती आयी चिरन्तन कथा है.

जड़ पदार्थोंकी विविधतामें भी तो कोई एक पदार्थ कभी दूसरे पदार्थका आविर्भावक, तो कभी परिवर्धक, तो कभी परिशोषक या परिहारक कब नहीं था ! इन्हीं जड़ पदार्थोंके बीच प्रकट होनेवाले सजीव अचर स्पर्शवेदी शरीरोंका जड़ पदार्थोंपर जैसा वर्चस्व प्रकट हुवा वैसे ही इन सजीव अचर पदार्थोंपर भी तो पुनः सचर स्पर्शवेदी शरीरधारियोंका वर्चस्व या अंकुश रहा ही है. उनमें भी पुनः विद्यमान रस-गन्ध-ध्वनि-रूपके संवेदी सजीव शरीरोंपर इन पंचविध तन्मात्राओंके न केवल विद्यमानसंवेदी अपितु स्मृतिजन्य संस्कारवश प्रत्यभिज्ञासम्पन्न सजीव प्राणियोंका भी वर्चस्व रहा ही है. विकाससोपानपर प्रकट होनेवाले इनपर भी पुनः इन पंचविध तन्मात्राओंकी समुत्पत्ति-समापत्ति-समाप्तिके संवेदी शरीरोंका वर्चस्व रहा ही है. यों अपनेसे ऊपरले विकाससोपानपर प्रकट होनेवाली बुद्धिसामर्थ्यका निचले सोपानोंपर प्रकट होनेवाले बुद्धिसामर्थ्यपर वर्चस्व सर्वदा ही इतिहाससिद्ध रहा है. फिरभी प्रकृतिने अपने सन्तुलनशील स्वभावके वश किसीको जीवनाधारहीन बना कर विनष्ट नहीं होने दिया.

अतः यह कहनेका साहस हम जुटा पाते हैं कि निचले सोपानोंपर अवस्थित बाह्य पदार्थोंके असंकल्पित अनुभवों अवधारणाओं तथा व्यवहार्यता पर पराभौतिकीविदोंको सतानेवाली अनिश्चिति आज कष्टप्रद भी हो तब भी भविष्यमें अनुभवातीत पदार्थोंके चिन्तनक्षेत्रमें निजवर्चस्विताके वास्ते पराभौतिकीके चिन्तकोंके हितमें प्रकृतिस्वभावोपात्त सन्तुलन प्रकट हो ही जायेगा ! क्योंकि प्राणिविकासके विविध सोपानोंपर भी निचले स्तरके संवेदनशीलतावाले सजीव प्राणियोंपर उपरले स्तरके सजीव प्राणियों वर्चस्व पहले भी दुःसह रहा होनेपर भी सर्वथा असह्य या निःशेष विघातक तो कभी हो नहीं पाया, वैसे ही निचले स्तरके पदार्थोंके स्वरूप अनुभव एवं व्यावहारिक उपयोगिता की रीतिको आधुनिक विज्ञानोंकी विविधता हथिया भी लेगी, तबभी उनसे उपरले अनुभवातीत पदार्थोंपर पराभौतिकी-चिन्तन अवरुद्ध नहीं हो पायेगा. भूतकालमें भी जैसे निचले स्तरकी विद्यमानवेदी चेतनाको जहां अभावबोध होता होगा, तब वहीं समुत्पत्ति-समापत्ति-समाप्तिकी संवेदनाशील चेतना

भावग्राहिणी बन जानेके कारण अपने व्यवहारको व्यापक क्षेत्रोंमें वर्चस्वितया कार्यकारी बना पायी थी. फिरभी स्वाभाविक अनुभूतिके क्षेत्रमें कुछ न कुछ तो आपाधापी प्राणियोंके इतिहासमें भी सदा-सर्वदा प्रकट होती ही रही है. प्रकृतिकी सर्वपालनात्मिका शक्तिके कारण इसी तरहका सन्तुलन सदा-सर्वदा निभता रहा है !

एक सन्दर्भान्तरमें इस तरहकी आपाधापीकी दारुणकथा भागवतपुराणमें इन उल्लेखनीय शब्दोंमें वर्णित हुयी है :

क. “बिन हाथवाले प्राणी हाथवाले प्राणिओंके भक्ष्य बनते हैं, बिना पगके जो प्राणी होते हैं वे चौपगे प्राणिओंके भक्ष्य बन जाते हैं, क्षुद्रकाय प्राणी महाकाय प्राणियोंके भक्ष्य बनते हैं. प्रत्येक जीवका जीवन इस तरह दूसरे जीवपर टिका हुवा है. वैसे तो इन सभी रूपोंमें एकमात्र स्वयंप्रकाश भगवान्... जो आत्माओंके भी आत्मा हैं, वे भीतर भी अनुभूत होते हैं और बाहर भी. अपनी मायाशक्तिके कारण बहुधा भासित होते हैं”.

ख. “उन परम भगवान्ने प्रत्येक सर्गके बाद अपनी शक्तिद्वारा यह प्रकट किया है... समुद्रके भीतरसे बाहर निकाली पृथ्वीको जब द्रुमांसे चारों ओर घिरी हुयी पायी तो अनुसर्गके निर्माणार्थ नियुक्त क्रुद्ध हो गये... और वायु और अग्नि का निर्माण करके उन वृक्षोंको जला देने तत्पर हो गये... उनके द्वारा वृक्षोंको जलता हुवा देख कर... उनके क्रोधको शान्त करते हुवे बोले ‘इन दीन वृक्षोंको जला देना आवश्यक नहीं, क्योंकि आपको तो प्रजाओंके पतिके रूपमें प्रजाकी वृद्धिका कार्य सोंपा गया है नकि वृक्षोंको जला देनेका ! प्रजापतिओंके पतिरूप विभु अव्यय भगवान् हरिने ऊर्जा प्रकट करनेके हेतु वनस्पतियोंका एवं ओषधिओंका निर्माण किया है, क्योंकि अचर प्राणी चरिण्यु प्राणियोंके अन्न बनाये गये हैं. चरणरहित प्राणी पादचारियोंके अन्नतया निर्मित हुवे हैं, हस्तरहित प्राणी हस्तयुक्तोंके अन्नतया निर्मित हुवे हैं, दो पगवाले प्राणी चार पगवाले प्राणियोंके अन्नतया निर्मित हुवे हैं. अतः आप तो पापरहित होनेके कारण देवाधिदेव और अपने पिताकी आज्ञाके अनुसार प्रजाओंके सर्गके लिये नियुक्त हुवे हो सो वृक्षोंको जला देना आपकेलिये कैसे उचित हो सकता है ? अतः सज्जनोंके मार्गको अपना कर अपने इस धधकते कोपका त्याग आपको कर देना चाहिये”^६

अतः यह तो सृष्टिके निर्माणसंविधानमें सर्वत्र उपलब्ध होनेवाला शाश्वत सत्य ही है ! अतएव प्रचुर अन्नके चतुर्दिक् पर्यावरणमें ही अन्नाद प्राणी जीवित या विद्यमान रह सकता है और अन्नाद प्राणीके भीतर पहुंच जानेके बाद भक्षित अन्न ही अन्नादके साथ स्वरूपभावापन्न हो जाता है. अतएव भक्ष्य अन्न और भक्षक अन्नाद के बीच परस्पर अद्वैतानुभूतिमें आत्मविश्वैक्यभावका उपदेश तैत्तिरीयोपनिषद्में मिलता है :

“मैं स्वयं अन्न भी हूं... और अन्नभक्षी भी... मैं उस अन्नका भक्षण करता हूं जो अन्न मेरा भक्षक है... यों सोचनेपर मैं सारा भुवन बन जाता हूं. जो इस तरह समझ पाता है उसके लिये सुप्रकाश ज्योति प्रकट हो जाती है”^७.

मुझे तो ऐसा लगता है कि आधुनिक विज्ञानके द्वारा पराभौतिकीके क्षेत्रको हड़पे या निगले जानेपर अन्नाद आधुनिक विज्ञानके भीतर जब पराभौतिक शास्त्र अन्नात्मना पहुंच जायेगा तब भक्ष्य अन्न और भक्षक अन्नाद के बीच तादात्म्यभावापत्ति सिद्ध हो जायेगी. फलरूपेण पराभौतिकी आधुनिक विज्ञानको सहज ही पराभौतिकीभावापन्न बना कर उसके स्वरूपकी घटक बन जायेगी ! अतः ऐसे पराक्रमके सफल होनेपर भी विज्ञान उतना ही नियन्त्रण हमारी चिन्तनसामर्थ्यपर प्रकट कर पायेगा जितना कि ऐसे नियन्त्रणोंद्वारा यथाभिलाष स्वयंको कार्य भलीभांति सम्पन्न करने सक्षम बन पाये, उससे अधिक नहीं.

अतः आधुनिक वैज्ञानिक चिन्तन यदि पराभौतिकीचिन्तनपर कोपमयी या हिंसात्मिका दृष्टि रखता है तो वह दृश्यसृष्टिका वास्तविक हित नहीं कर पायेगा ! वास्तविक विश्वहित तो पराभौतिकीचिन्तनकी तरह द्रष्टृसृष्टिपर भी अनुकम्पामयी या स्नेहमयी दृष्टिको निभानेपर ही शक्य है. इसी तरह पराभौतिकीचिन्तनको भी आधुनिक वैज्ञानिक

चिन्तनपर कोपमयी हिंसात्मिका दृष्टि नहीं रखनी चाहिये.

क्योंकि दिखना/देखना, सुनाईदेना/सुनना, प्रियलगना/प्रेम-करना, अप्रियलगना/उपेक्षा-द्वेष-करना, भयलगना/डरना-चाहना अथवा विचार-आना/विचार-करना आदि प्रकारभेदोंके बने रहते विचारशील मानवपशुको विचाररहित नहीं बनाया जा सकेगा.

अतएव विज्ञानके अन्वेषण-प्रयोग-आविष्कारोंद्वारा प्राप्त निष्कर्षोंपर यह चिन्तनप्रधान प्राणी अपना चिन्तन बन्द तो नहीं कर पायेगा. यह तो स्वाभाविक ही है कि पहले जैसे दृष्ट-श्रुत आदि उदाहरणोंके आधारपर उभरती जिज्ञासाके उपशमनार्थ उपपत्ति/अनुपपत्ति सोची जाती थी, वह अब वैज्ञानिक अन्वेषण-प्रयोगोपात्त उदाहरणोंका अवलम्बन कर विचारणीय बनानेको बाधित होना पड़ेगा. प्रारम्भमें इसमें पराभौतिकीचिन्तकोंको अपनी हेठी लगती भी हो पर अन्तमें कभी न कभी तो लगनी बन्द हो ही जायेगी ! अतः मानवीय बुद्धिरूप अधिकरणमें समानाधिकरणतया प्रकट होते पराभौतिक चिन्तन और वैज्ञानिक चिन्तन को ब्रह्मोपम अपने सामानाधिकरण्यका विचार कर परस्पर असहिष्णु नहीं बनना चाहिये.

आधुनिक वैज्ञानिक चिन्तकोंद्वारा पराभौतिकचिन्तनकी उपेक्षा इसी तरह पराभौतिकचिन्तकोंको सताती आधुनिक वैज्ञानिक चिन्तनकी भीति के मूलमें, जो समस्या है वह तो विश्लेषणवाद या संश्लेषणवाद के साथ जुड़ी अतिरेकतावादी मनोवृत्तिकी ही है.

उदाहरणतया वैशेषिकोंके भावपदार्थका “^१द्रव्य ^२गुण^३ कर्म^४ सामान्य^५ विशेष ^६समवाय” में विश्लेषण स्वयं वैशेषिकोंने ही पुरःस्कृत किया है. उनके इस अपराधवश, यदि, बौद्ध चिन्तन भावपदार्थको स्वीकारना न चाहता हो तो, वैशेषिक भी कह तो सकते ही हैं कि “^१ दुःख ^२अविद्या ^३संस्कार^४ विज्ञान^५ नामरूप ^६षडायतन ^७स्पर्श ^८वेदना ^९तृष्णा ^{१०}उपादान^{११}भव ^{१२}जाति” के दुःखचक्रका अपने घटकोंमें विश्लेषण स्वयं बौद्धोंने ही प्रस्तुत किया है. अतः ये बारह घटक तो स्वीकारे जा सकते हैं पर इनसे घटित दुःखचक्र नहीं, न तो प्रतीत्यसमुत्पादकी प्रक्रियाके अवलम्बनद्वारा और न अस्ति-नास्ति-उभय-अनुभयातीत शून्यताकी प्रक्रियाके अवलम्बनद्वारा. और तब तो “^१सम्यग्दृष्टि^२सम्यक्संकल्प ^३सम्यग्वाचा ^४सम्यक्कामान्त ^५सम्यग्गाजीव ^६सम्यग्व्यायाम ^७सम्यक्समृति ^८सम्यक्समाधि” वाले अष्टांगमार्गका विश्लेषण भी स्वयं सौगतोंद्वारा पुरस्कृत होनेसे प्रज्ञा-शील-समाधिकी दुःखनिरोधगामिनी त्रयी भी स्वीकार्य न हो पायेगी !

ब्रह्माण्डविज्ञानकी दृष्टिसे सौरमण्डलका भी उसके नाभिदेशमें अवस्थित सूर्य रूपा तारा एवं उसकी परिक्रमा करनेवाले बुध शुक्र पृथ्वी मंगल गुरु शनि आदि ग्रहपिण्डोंमें विश्लेषण शक्य होनेसे ‘सौरमण्डल’ पदको वाच्यार्थहीन वाचक माना नहीं माना जा सकता. सौरमण्डलके, क्योंकि, अस्तित्वको इन्कारनेपर पृथ्वीपर जन्म ले कर ऐसा विधान करनेवाला स्वयं ही असिद्ध हो जायेगा !

किसी बाह्य पदार्थके चाक्षुष अवभासनकी प्रक्रियामें, क्योंकि, बाह्य पदार्थकी बाहरी परत परसे परावृत्त प्रकाश नेत्रपटलमें प्रतिबिम्बित होता है, वहां प्रकाशके ग्रहणार्थ शंकु-शलाकाओंमें प्रकाशकिरणोंका पृथक्करण होता है, बादमें नेत्रगोलक और मस्तिष्क के बीच जो नाडीतन्त्र बिछा हुआ है उनमें रहनेवाले नाडीकोशों (Nerve cells or neurons) में वैद्युतरसायनिक तरंगोंमें रूपान्तरण प्रतिक्रियाके रूपमें प्रकट होता है. ये तरंगे मस्तिष्कके भीतर भरे संवेदनशील नाडीकोशमुकुरों (Mirror neurons) में दर्ज होते हैं. इस तरह नेत्रपटलपर प्रकाशापातनकी प्रक्रियासे शुरु होनेवाली क्रियाकी वैद्युतरसायनिक प्रतिक्रियाकी कई कड़ियोंके अलावा चाक्षुष अवभासनकी

चेतनात्मिका सत्ताका अस्वीकार भी किया जा सकता है। ऐसे विश्लेषणवादकी, परन्तु, अतिरेकितাকে वश तो सम्पूर्ण मानवशरीरकी वास्तविकताको भी इन्हींके जैसी प्रक्रियाओंमें किये जाते विश्लेषणोंके आधारपर इन्कारा जा सकेगा। शरीरान्तर्वर्ती काम या प्रेम की इच्छा भी अन्तमें तो टेस्टोरेन्की रासायनिक प्रतिक्रियाके अलावा अन्य कुछ नहीं !

अतः ऐसे इन सभी उदाहरणोंकी सम्पुष्टि मोबाईल या डिजिटल केमेरा आदि उपकरणोंमें रहे प्रकाश ध्वनि स्पर्श गन्ध आदिके ग्राहक संवाहक संग्राहक डिजिटस्की दुहाई दे कर की जाती है। एतावता मानवीय शरीरमें प्रकट होती इन संवेदनाओंको आत्मघातक विश्लेषणवादितके अतिरेकमें कैसे इन्कारा जा सकता है ? क्योंकि इन कृत्रिम उपकरणोंमें भी ऐसी बाह्य तन्मात्राओंकी ग्राहकता, उनके भीतर रहे कोषोपम कोष्ठों तक उनकी संवाहकता और उनके वहां किये जाते संग्रहण की वास्तविकताका निर्धारण भी, पुनः प्रकृति द्वारा विनिर्मित सजीव कोषोंद्वारा किये जाते ग्रहण संवाहन एवं संग्रहण के साक्ष्यपर अवलम्बित हुवे बिना शक्य नहीं।

मेंदेलेव द्वारा सारणीबद्ध किये गये सृष्टिके मूल तत्त्वोंका भी इलेक्ट्रॉन्स् न्यूट्रॉन्स् और प्रोटॉन्स् में विश्लेषण किया ही गया है। और इन परमाणुत्रयीके भी पुनः क्वार्क्स (quarks)के घटक फॉर्मिनोस्, जो पुनः बेरिऑन्स् और मेज़ोन्स् घटकतया उत्प्रेक्षित हैं, उनमें विश्लेषण प्रस्तावित है। तो ऐसे विश्लेषणवादकी अतिरेकता भरी मनोवृत्तित्वा द्वारा आधुनिक विज्ञानकी विविध शाखाओंद्वारा मान्य पदार्थोंका भी अन्यथा व्याख्यान कहां अशक्य है ?

अतः इन दिखलायी सुनायी देती तन्मात्राओंकी उपलब्धियोंके अलावा संकल्पजन्य देखने सुनने सूंघने छूने चखने आदिके अवबोधकलापकी तरह इच्छाजन्य चलने पकड़ने आदिके क्रियाकलापोंमें कृत्रिम अकृत्रिम जड़क्रियातीत इच्छा-अनिच्छा रुचि-अरुचि उत्प्रेक्षा-निश्चिति उपलब्धि-अनुपलब्धि सन्तोष-असन्तोष विस्मय-अविस्मय भीति-क्रोध रति-अरति विचार-ध्यान आदिके मनोभावोंकी वास्तविकताको भी इन्कारा नहीं जा सकता है।

उदाहरणतया मैं अपने कमरेमें बैठा हुवा, चर्मचक्षुसे तो कमरेके बाहर देखनेमें अक्षम हूं। तब भी अपने ज्ञानचक्षुसे मैं अपने कमरेके भीतर बैठा हुवा ही मुंबई महाराष्ट्र भारत एशिया पृथ्वी में बैठे होनेकी अनुभूति भी कर सकता हूं, नैयायिक इसे ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्तिका उचित उदाहरण मानें या न मानें। यह कृत्रिम वैज्ञानिक उपकरणोंके बलपर तो शक्य नहीं। मान लें आज नहीं तो कल ऐसा भी कोई उपकरण आविष्कृत हो जाय, तब भी उसे प्रयोगमें लाने या न लानेका निश्चय तो स्वयं मैं ही करूंगा; अतः उससे अधिक उपरले सोपानपर पुनः पराभौतिकीको अपने चिन्तनात्मक प्रशासनका वर्चस्व उपलब्ध होगा ही।

अतएव प्रत्यक्षावभासनकी उपलब्ध दर्शनोपकरणकी सामग्रियोंके वश अवभासित होती विविधताके भीतर जो आत्मैक्यका अनुदर्शन कर पाता है, उसे शोक-मोह नहीं होता, ऐसा उपनिषद् हमें समझाना चाहते हैं :

“यदि सारे भूत-भौतिक पदार्थोंको एक आत्माके भीतर कोई जान पाता हो तो फिर शोक-मोह उसे सताते नहीं”।

इस औपनिषद् धारणामें कई चिन्तकोंको आत्मकैवल्यवाद (solipsism) होने की ऐकान्तिक धारणाका दोष स्फुरित हो सकता है। यहां, परन्तु, धैर्यपूर्वक लक्ष्यमें रखने लायक तथ्य यही है कि उपनिषद् सर्वभूतोंके द्वैतको मिथ्या या असत् मान कर बाधित नहीं करना चाहता; प्रत्युत सर्वभूतोंके द्वैतदर्शनमें आत्मकैवल्यके अनुदर्शनकी बात कह रहा है। एक भाषामें कहे गये किसी तथ्यका दूसरी भाषामें अनुवाद करनेसे मूलभाषा बाधित नहीं परन्तु अनूदित होती है। दिखलायी देते निखिल भूतोंके द्वैतका आत्माद्वैतमें देख पानेका उपदेश यहां अभिप्रेत है।

अतः जो परिणमनशील होता है वह हमें दिखलायी सुनायी आदि पड़ता है. मानवीय ज्ञानके इस प्रदेशको आधुनिक वैज्ञानिक चिन्तन पराभौतिकीकी पराधीनतासे छुड़ा कर वहां अपना राज्य या प्रशासन वह प्रस्थापित कर रहा हो या करना चाहता हो तो पराभौतिकीके चिन्तनके वास्ते कोई महती हानि हुयी हो, ऐसा लगता नहीं. प्रतिक्षण परिणामी इस अप्रशास्य प्रदेशपर सर्वदा परिवर्तनशील वैज्ञानिक चिन्तन “यथा राजा तथा प्रजा” न्यायके अनुसार इतरेतरोपम औचित्य ही प्रकट करता है.

(४)

इन प्रतिक्षण परिणामशील प्रापञ्चिक विषयोंका यदि कोई अभिन्ननिमित्तोपादानप्रयोजनशाली अविकारी तत्त्व हो तो वह तो दिखलायी नहीं देगा. उसे तो देखना ही पड़ेगा. अतएव पराभौतिकी दर्शनशास्त्रद्वारा संस्कृत नयनोंसे ही उसे देखा जा सकेगा. अतएव ऋग्वेदमें कहा गया है “जो कुछ है या जो कुछ होनेवाला है वह सभी कुछ यह पुरुष ही तो है. वह तो ऐसे अमृतका धनी है कि जो अन्नका रूप धारण करनेपर भी तिरोहित नहीं हो पाता है”^{१९} अर्थात् अन्नात्मना भक्ष्य बननेके कारण चर्मचक्षुसे नष्ट हुवा सा लगनेपर भी श्रौतज्ञानकी चक्षुसे निहारनेपर जो तिरोहित नहीं लगता हो ऐसा ब्रह्मरूप पुरुष अमृतत्वका स्वामी पदार्थ है ! अतएव विनाशशील पदार्थोंको उस अविनाशीकी महिमाके रूपमें बिरदानेको श्रुति कहती है “इतनी तो उसकी महिमा है अन्यथा वह पुरुष तो इससे कहीं अधिक है. क्योंकि उस तीन चरणवाले पुरुषके एक चरणमें यह सारा मर्त्य विश्व समाया हुवा है और अमृत चरण तो द्युलोकमें है”^{२०}.

यों अंश और अंशी परस्पर देश-काल-स्वरूपमें परिच्छिन्न इन्स्टैंस् और देश-काल-स्वरूपभेदातीत रूल अथवा देश-काल-स्वरूपमें परिच्छिन्न फेक्ट और देश-काल-स्वरूपभेदातीत टुथ की तरह माने जाने चाहिये. अतएव जागतिक सारे नाम रूप और कर्म, देश-काल-स्वरूपके प्रभेदवश, परिच्छिन्न होते हैं. जबकि ब्रह्मको देश-काल-स्वरूपके परिच्छेदसे अतीत माना गया है : “ब्रह्म सत्यस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है, ब्रह्म अपरिच्छिन्नस्वरूप है”, “द्रव्य कर्म काल स्वभाव या जीव भी वासुदेवसे भिन्न कोई तत्त्व नहीं होते”^{२१}.

अतएव श्वेताश्वतरोपनिषद्में “क्या-कैसा ब्रह्म कारण है ? हम कैसे जनमे हैं और जीवित रहते हैं ? हम कहां सम्प्रतिष्ठित हैं ? हमारे भीतर कौन अधिष्ठित है ? किस कारणके वश हमें जिन बातोंमें सुख नहीं मिलता उन्हीं बातोंमें हम जुत जाते हैं ? इस बारेमें ब्रह्मविदोंने क्या-कैसी व्यवस्था समझायी है ?”^{२२}. इस ऐसी जिज्ञासाके समाधानार्थ सुस्पष्ट शब्दोंमें “काल स्वभाव नियति यदृच्छा भूत योनि पुरुष इस तरहके कारण सोचे-विचारे जाते हैं, क्या इनके परस्पर संयोगमें आत्मभाववश आत्माको सुखदुःख होता है ? या सुखदुःखके बारेमें अनीश्वर होनेके कारण आत्माको भी स्वीकारना शक्य नहीं ? उन्होंने ध्यानयोगमें परायण हो कर देखा कि जितने भी कारण हो सकते हैं उन सभी काल आत्मा आदि रूपोंवाले तत्त्वोंमें वही एक देव अपनी आत्मशक्तिमें निगूढ कालात्मयुक्त होकर अधिष्ठित रहता है”^{२३} वचनमें सृष्टिकारणतया समझमें आनेवाले या प्रस्तुत होनेवाले सभी तत्त्वोंका अन्तर्यामी अधिष्ठाता ही ब्रह्म ही इन सभी नाम-रूप-कर्मात्मक तत्त्वोंका अनन्य आधार है.

आधुनिक विज्ञानको यह ब्रह्म न भी समझमें आता हो और वह श्रुतिसंकलित कारणतत्त्वोंमें से अन्यतम या पृथक् ही कोई कारणतत्त्व स्वीकारना चाहता हो, तब भी श्रुतिप्रतिपाद्य ब्रह्मके ही उसे कोई अनुपदिष्ट-अचर्चित नाम-रूप-कर्मके रूपमें स्वीकार लेनेमें ब्रह्मवादीको घबराने जैसी कोई बात नहीं है. क्योंकि श्रुतिके “वह धीर पुरुष सारे रूपोंको धारण कर और तदनुसारी नामोंको भी धारण कर अवस्थित है”^{२४} वचनमें सम्भावित सकल नाम-रूपोंका विधारक ब्रह्मको तो माना ही गया है.

ऐसी स्थितिमें पूर्वोल्लिखित “इतनी उसकी महिमा है”^{१५} वचनके आधारपर जो कुछ दिख रहा है वह उसका ही माहात्म्य है. अर्थात् उस महान् आत्माके महान् आत्मा होनेका साक्ष्य है. देखना हमें, परन्तु, उपनिषदोंके अनुसार उसका तादात्म्य है.

इस ब्रह्मके ऐसे माहात्म्य और तादात्म्य का उपदेश श्रुतिवचनोंमें स्व-पर-सर्वानुभूतियोंकी अनेकविध मुद्राओंमें दिया गया है :

क. “पहले तो यह ब्रह्म ही था. उसने अपने-आपको ‘मैं ब्रह्म हूँ’ ऐसे जाना अतः सभी कुछ बन गया. अतएव आज भी जो इस तरह अपने-आपको ब्रह्म जान पाता है वह सभी कुछ बन जाता है”.

ख. “यह सभी कुछ एतदात्मक है. वह सत्य है. आत्मा तो वही है और तुम भी वही हो”.

ग. “यह सभी कुछ ब्रह्म है, अतः उस ब्रह्मकी उपासना सब कुछ उसमें पैदा-लीन होता है, सभी उसीमें सांस ले रहे हैं, शांत हो कर ऐसी उसकी उपासना करनी चाहिये”^{१६}.

इन वचनोंके अनुसार ‘अहं’कारगोचर ‘त्वं’कारगोचर ‘इदं’कारगोचर ‘सर्व’कारगोचर यों दिखलायी देते सभी पदार्थोंके बारेमें पहले उन्हें एकमेव अद्वितीय ब्रह्मके माहात्म्यके रूपमें देखनेकी औपनिषदी दृष्टि पनपनी चाहिये. अन्तमें इन्हें उद्देश्य बना कर इनके ब्रह्म होनेके विधान द्वारा इनका और ब्रह्मका तादात्म्य समझाया गया है.

अतएव महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य माहात्म्यबोधपूर्वक प्रकट होती तादात्म्यरतिको भक्तिके रूपमें परिभाषित और उद्बोधित करना चाहते हैं. जगत्को ब्रह्मके अंश या कार्य के रूपमें जानना ब्रह्मके माहात्म्यको जान लेनेकी बात है परन्तु जगत्के साथ ब्रह्मका तादात्म्य समझ आनेपर ब्रह्मके बारे अनन्यात्मासक्ति पनपती है. तदर्थ अपना यानिकि सकल जगत्का ब्रह्मके साथ तादात्म्य जानना भी आवश्यक होता है (द्र.सुबो.२।१।३५ तथा त.दी.नि.१।४२).

दूसरे शब्दोंमें कहना हो तो दिखलायी देते जगत्को ब्रह्मके माहात्म्यके रूपमें देख पानेपर ही अंश और अंशी के बीच रहा तादात्म्य बुद्धिगत या हृदयारूढ़ हो पाता है.

(५)

अतएव वेदान्तके विभिन्न प्रस्थानोंमें, ब्रह्मके साथ जगत् अद्वैत है या द्वैत, इस विषयको लेकर पर्याप्त परस्पर असहिष्णु विचारभेद प्रवर्तित हुवे हैं. ब्रह्मवादी दृष्टिकोणसे उस विवाद या विमति का मूल ब्रह्मके माहात्म्य या अभेद के बारेमें अतिरेकतावादी दृष्टिकोण ही है. अतः माहात्म्य और तादात्म्य दोनोंको अंगीकार करनेपर अर्थात् तादात्म्यसहिष्णु माहात्म्य और माहात्म्यसहिष्णु तादात्म्य यदि स्वीकार्य बन पाये तो ईशावास्योपनिषद्में इसे कैसे प्रतिपादित किया गया, उसे भी देख लेना प्रासंगिक होगा :

“जो अविद्याके उपासक होते हैं वे तो अन्धतम नरकमें प्रवेश करनेवाले हैं. परन्तु जो विद्यामें ही रत रह जाते हैं वे तो उससे भी अधिक अंधेरेमें प्रवेश करनेवाले होते हैं. अतः जो उसे विद्याकी तरह अविद्याके साथ जान पाते हैं, वे अविद्याके कारण मृत्युको पार करके विद्याद्वारा मोक्ष प्राप्त कर पाते हैं”^{१७}.

यहां सुस्पष्ट शब्दोंमें अविद्या और विद्या को परस्पर असहिष्णुतया उपस्थापित करनेके बजाय उभयपूरकतया प्रस्तुत किया गया है. ब्रह्मबोधरहित अहंकार अथवा आत्मरति अविद्या है. और यह चेतनाको अन्धतमगामिनी बना देती है. तादात्म्यबोधरहित ब्रह्मका माहात्म्यबोध विद्या तो अवश्य है परन्तु उसे अन्धतमसे भी अधिक दुर्गति प्रदान करनेवाला माना गया है. अतः अपने आविद्यक अहंकारमें झलकनेवाली आत्मरतिके द्वारा जो ब्राह्मिक तादात्म्यका अनुभव कर पाता हो अथवा ब्राह्मिक माहात्म्यका स्वीकार जो अपने आविद्यक अहंकारके साथ स्वीकार पाता है, वही आविद्यक अहंकारके सहारे स्वयंकी मर्त्यता होनेकी भीतिसे मुक्त हो कर ब्राह्मिक तादात्म्यके बोधवश ब्राह्मिक रमणके हिस्सा होनेकी आश्वस्तताके वश अमृतत्वको प्राप्त कर पाता है.

यूरोपीय चिन्तक पास्कलका एक विधान है कि यह विशाल निष्ठुर ब्रह्माण्ड यदि मानवको कभी निःशेषतया विनष्ट भी कर देगा तो भी महान् तो मानवको ही मानना चाहिये, क्योंकि मानव यह जान पाता है कि उसे निःशेष किया जा रहा है जबकि ब्रह्माण्ड यह जान नहीं पायेगा कि उसमें प्रकट होनेवाली कितनी महत्त्वपूर्ण संरचना उसने खतम कर दी ! इस तरहकी विचारधारामें मानवीय अहंकारका ब्रह्माण्डके इदंकारसे तादात्म्य अनुभव करनेके बजाय केवल माहात्म्य ही स्वीकारा जा रहा है, वह भी वह भी ब्रह्माण्डके द्वारा मानवके नष्ट होनेकी संभावना और भीति के साथ !

ब्रह्मवाद, परन्तु, मानवीय बुद्धि व्यवहार और हृदय में ऐसी अवधारणा प्रस्थापित करना चाहता है कि ब्रह्मको अपना अंशी-उपादान माननेपर स्वयंके नाशके त्रास एवं कुण्ठा से मुक्ति मिल सकती है. क्योंकि एकमेव अद्वितीय ब्रह्म के माहात्म्यको भलीभांति जान लेनेपर वही क्षणिक क्षयिष्णु क्रियारूपमें भी प्रकट हुवा है और वही अक्षय सनातन चेतनाके रूपमें उसका साक्षी भी बनता है. और ऐसा तथ्य अवगत होनेपर भक्ष्य अन्नकी नश्वरता और उसके कारण ज्योतीरूप भक्षक अन्नादकी अन्नमयताके कारण प्रकट होती अन्धकारोपमा मृत्युभीति और कुण्ठा पर काबू मिल सकता है.

महर्षि यास्कने “ ‘अन्ध’ नाम अन्नका है... तमस्को भी ‘अन्ध’ कहा जाता है, क्योंकि उसमें न ध्यान शक्य होता है और न दर्शन ही”^{१८} यों अन्न और अन्धकार दोनोंमें ‘अन्ध’पदकी शक्ति स्वीकारी है. इसी तरह “मृत्यु तो असत् है अमृत सद् होता है”, “मृत्यु निश्चय ही तमोरूप होती है अमृत तो ज्योतीरूप होता है”, “प्रधान क्षर होता है अक्षर अमृतरूप होता है”^{१९} इन वचनोंमें ‘मृत्यु’-‘अमृत’, ‘तमो-ज्योति’, ‘असत्’-‘सत्’ आदि पदयुगलोंमें इतरेतरार्थव्यावर्तकता प्रतीत तो अवश्य ही होती है. औपनिषद् ब्रह्मके भीतर, परन्तु, ये ही पदार्थ अपना इतरेतरसहिष्णु स्वरूप भी दरसाते ही हैं. यथा बृहदारण्यकोपनिषद् एवं भगवद्गीतामें सुस्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है कि “ब्रह्मके दो रूप होते हैं : वह मर्त्यरूप भी होता है और अमृतरूप भी, प्रकट सत् भी होता है और अप्रकट त्यत् भी”, “अमृत भी और मृत्यु भी सद् और असत् भी मैं ही हूं”, “सर्वहारी मृत्यु भी मैं हूं और होनेवालोंका उद्भव भी”^{२०}.

अतः एक ओर ऐसे वचन और दूसरी ओर “जो ऐसे समझता है कि ब्रह्मका कहीं भी अस्तित्व ही नहीं वह तो स्वयं ही असत् हो जाता है”^{२१} वचनोंको एक साथ पढ़नेपर कुछ असंजसता भी भासित हो सकती है. स्वयम् इसी उपनिषद्में, किन्तु, एक नितान्त मननीय समाधान भी प्रस्तुत हुवा है :

“उसने कामना की कि वह बहुत बन कर प्रकट हो जाय... उसने तप किया और तप द्वारा उसने यह सभी कुछ प्रकट किया... सत् और असत्... विज्ञान और अविज्ञान, सत्य और अनृत भी”^{२२}.

अतः कहा जा सकता है कि ब्रह्म स्वरूपतः असत् हो नहीं सकता परन्तु एतावता लीलया वह असत् बन न

पाता हो इतना असमर्थ माननेकी भी कोई आवश्यकता नहीं है ! यही बात मृत्यु तम अन्धकार या अविद्या के बारेमें भी कही जा सकती है. प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि सदैकरस ब्रह्म असत् कैसे बन पायेगा ?

इस बारेमें महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य कुछ इस तरहकी प्रक्रिया दरसाते हैं कि सच्चिदानन्द ब्रह्म अपने आनन्दांशके तिरोधान द्वारा जैसे लीलया अज्ञ जीवात्मा बन सकता है, अथवा जैसे अपने चिदंशके तिरोधानद्वारा जड़ प्रकृति और उसका विकाररूप पांचभौतिक प्रपंच भी बन सकता है, वैसे ही सदंशके भी तिरोधानद्वारा, अर्थात् स्वरूपानुपाती नहीं किन्तु स्वसामर्थ्यानुपाती नाम-रूप-कर्म वह प्रकट कर सकता है. ऐसे नाम-रूप-कर्म सदुपादानक न होनेके कारण 'असत्' कहलाते हैं. इसी तरह तमस् या अन्धकार या अविज्ञान या अविद्या भी, अपने चिदंश या आनन्दांश के तिरोधान द्वारा, सच्चिदानन्द ब्रह्म प्रकट कर सकता है. इसी तरह मृत्यु तो प्राणशक्ति और अन्नमय शरीर के परस्पर वियोजनके अलावा और कुछ नहीं. वह भी ब्रह्म अपने द्वारा परिगृहीत शरीररूपोंमें प्रकट करने सर्वसमर्थ है ही.

(६)

निष्कर्षतया विभिन्न मतवादोंको निरन्तर उलझाये रखनेवाले कतिपय प्रमुख परस्पर विरोधाभासी मुद्दोंपर, उदाहरणतया, ^१ विद्या अविद्यासहिष्णु हो सकती है या नहीं ? ^२ कालातीत नित्यता कालिक-अनित्यतासहिष्णु हो सकती है या नहीं ? अर्थात् अनादिता जन्मसहिष्णु हो सकती है या नहीं ? ^३ अमृतता मृत्युसहिष्णु हो सकती है या नहीं ? ^४ एकमेव अद्वितीय परमतत्त्व अनेकतासहिष्णु हो सकता है या नहीं ? ^५ ब्रह्माद्वैतवाद पारमार्थिक-अनेकदेववादसहिष्णु हो सकता है या नहीं ? ^६ परमात्माके प्रति भक्तिभाव होनेपर मुक्ति या मुक्तात्मा संसारसहिष्णु हो सकते हैं या नहीं ? ^७ अवाच्य अज्ञेय होनेके कारण सर्ववादानवसर ब्रह्म नानावादानुरोधि हो सकता है या नहीं ? (द्र.निबन्धके अन्तमें संकलित मूलवचन) इत्यादि, ऐसे इन विवादास्पद मुद्दोंके बारेमें दो विरोधाभासी तथ्योंमें एक ब्राह्मिक निखिलरूपताके अंगीकारद्वारा सहिष्णुताका तात्त्विक आधार ब्रह्मवाद प्रस्तुत करना चाहता है.

वैसे ब्रह्मवादकी ही तरह शून्यवाद और उसका एकदेशी अजातिवाद तथा स्याद्वाद के पक्षधर चिन्तकोंने भी इस दिशामें पर्याप्त वैचारिक पुरुषार्थ प्रकट किया है.

हम देख सकते हैं कि ताओवादकी तरह शून्यवाद भी, अपनी द्विविध विभाषाके अन्तर्गत मूलतः, ^क वादशून्य होनेकी सिद्धावस्थाकी चेतनामें तो सहिष्णुता दरसा सकता है. साधकावस्थामें, किन्तु, प्रत्येक वादका परिहार ही उसके द्वारा अभिप्रेत होनेसे असहिष्णुता भी प्रकट करता ही है. ^ख परमार्थ सत्को सदसदुभयानुभयकोटियोंसे विलक्षणतया मान्य रखनेकी द्वितीय रीतिके अन्तर्गत या तो शून्यवादीको वैतण्डिक मुद्रा धारण कर घोर असहिष्णुता प्रकट करनी पड़ती है या फिर चतुष्कोटिनिर्मुक्त परमार्थके दरज्जेसे निचले संवृत्तिसत्यके प्रतिपादक होनेके दरज्जेपर अन्यमतोंकी पदावनति करके अपनी यत्-किञ्चित् सहिष्णुता दरसानी पड़ती है. यह निचला दरज्जा परन्तु शून्यवादिओंकी तरह उसे न माननेवाले मतोंको मान्य होना कठिन ही लगता है. श्रीगौड़पादका अजातिवाद तो कुछ शून्यवादका ही सगोत्री एकदेशिमत् है.

जहां तक स्याद्वाद प्रश्न है तो उसकी भी दो विभाषायें दिखलायी देती हैं : १. अनेकान्तवाद और २. सप्तभंगिवाद.

सप्तभंगीके अन्तर्गत मौलिक रूपमें तीन कोटियां मान्य रखी गयी हैं “^१सत् ही है, ^२सत् है, ^३सत् भी हो सकता

है, यों तीन तरहसे अर्थका भान होता है. प्रथम प्रकारको 'दुर्नीति जानना चाहिये, दूसरे प्रकारको 'नय तथा तीसरे प्रकारको 'प्रमाण'^{२३} इस वचनके आधारपर ऐसा प्रतीत होता है कि अन्यवादियोंके मतोंके प्रति सहिष्णुताके बारेमें भी जैन चिन्तकोंको स्याद्वादी या अनेकान्तवादी मुद्रा ही अभिप्रेत है. वही मत, क्योंकि, सावधारण कहा जाता हो दुर्नीति बन जाता है और वही पुनः अनिश्चयद्योतक अवधारणरहित स्वीकारे जानेपर नय और स्याद्वाद या अनेकान्तवाद के अंगतया स्वीकारे जानेपर प्रमाणतया भी मान्य हो पाता है. अतः देख सकते हैं कि ऐसा अभिप्राय स्वीकार करनेपर या तो जैन मतप्रवेश अनिवार्य हो जाता है अन्यथा जैनचिन्तन सहिष्णुता प्रकट नहीं कर पाता. वैसे यह सहज संभव है कि अपने प्रारम्भिक चिन्तनके कालमें आर्हतोंका मत सप्तभंगिवादी न हो कर केवल अनेकान्तवादका ही उपोद्बलक रहा होगा. वह तो निश्चय ही सहिष्णुताका उचित रूपमें समादर होगा, परमार्थ सत्यको आग्रिहलतया अनेकान्त ही माननेपर भार न दिया जाये तो.

इनकी तुलनामें एकत्व और अनेकत्व के बारेमें सप्तविध भंगिमाओंके अन्तर्गत तृतीय अर्थात् उभयकोटि तथा ऐसे एकत्व-अनेकत्वविशिष्ट नाम-रूप-कर्मोंके बारेमें सप्तविध भंगिमाओंमेंसे किसी भी एक भंगिमामें अन्तर्भूत न होनेवाले तादात्म्यको स्वीकारनेवाले श्रौत चिन्तनके ये उद्गार मननीय लगते हैं

क. "उसे 'इन्द्र' 'मित्र' 'वरुण' 'अग्नि' कहते हैं, इसी तरह सुन्दर पंखोवाला 'गरुड़' भी. एक ही सत्का विप्र बहुधा प्रतिपादन करते हैं, 'अग्नि' 'यम' और 'मातरिश्वा' कह कर".

ख. "एक ही अग्नि बहुत प्रकारोंसे प्रज्वलित होता है, एक ही सूर्य विश्वमें अनुप्रविष्ट हो कर सब कुछ बन जाता है, एक ही उषा यहां सभीको विविधतया भासित करती है, एक ही यह सब कुछ बन गया है".

ग. "जहां अनेक लोकोंको और अनेक कोशोंको जलोंको लोग ब्रह्म जानते हैं असत् हो या सत् हो सभी कुछ उसके अन्दर है... जिसके भीतर भूमि अन्तरिक्ष द्युलोक अध्याहित रहते हैं, जहां अग्नि चन्द्रमा सूर्य वायु अर्पित रहते हैं... जहां अमृत और मृत्यु भी उस एक ही पुरुषमें अधिसमाहित रहते हैं... जहां बाहर आदित्य ग्यारह रुद्र और आठ वसुगण समाहित रहते हैं. जहां भूत जहां भावी और सभी लोक लोक प्रतिष्ठित रहते हैं... तैत्तिरीय देवता जिसके अंगमें गात्रोंके रूपमें विभक्त रहते होनेपर भी ब्रह्मविद् उन तैत्तिरीय देवताओंके एक ही होनेकी अनुभूति जहां कर पाते हैं".

घ. "जो एक अव्यक्त और अनन्तरूप है. वही सबसे अधिक पुराणतम है... वही अग्नि वही वायु वही सूर्य वही चन्द्रमा वही अमृत शुक्र और वही जल तथा प्रजापति भी है"^{२४}

यह व्यक्तिविशेषकी अभिमति या मान्यताके सब्जेक्टिव् प्रामाण्य या अप्रामाण्य से निरपेक्ष स्वयं ओब्जेक्टिवली प्रमेयके एक और अनेक, इसी तरह वास्तविक और भावानुरूप, होनेके अंगीकारमें उभरती सहिष्णुता एक विलक्षण सहिष्णुता है. इस श्रुतिप्रतिपादित ब्रह्मवादको सहृदयताके साथ विचारनेकी आवश्यकता पहले भी थी आज भी है और सर्वदा रहेगी ही.

(मूलभूत श्रौतप्रश्न)

"वह कौन सा वन था वह कौन सा वृक्ष था जिससे ये द्युलोक और भूलोक तराशे गये हैं ? मनीषिओ कभी अपना मन लगा कर किसीसे पूछ कर तो देखो कि इन भुवनोंको धारण करनेवाला कहां अधिष्ठित है ?"

(उसका श्रौतसमाधान)

"वह वन ब्रह्म था वह वृक्ष भी ब्रह्म था जिसने इन द्युलोक और भूलोक को तराशा है ! मनीषिओ मनयोगके साथ यह मैं कह रहा हूं कि भुवनोंको धारण करनेवाला ब्रह्ममें अधिष्ठित है !"^{२५}.

उद्धृत वचनावलीमूल

१ “आप्यायन्तु मम अंगानि वाक् प्राणः चक्षुः श्रोत्रम् अथो बलम् इन्द्रियाणि सर्वाणि. सर्वं ब्रह्म औपनिषदम्. मा अहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोद्. अनिराकरणं मे अस्तु. तद् अनिराकरणं मे अस्तु. तद् आत्मनि निरते ये उपनिषत्सु धर्माः ते मयि सन्तु मयि सन्तु. ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः” (केनोप.शां.पा.).

२ “कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा वा कर्तुं शक्यं लौकिकं वैदिकं च कर्म... नतु ‘वस्तु एवं नैवम् अस्ति नास्ति’ इति वा विकल्प्यते. विकल्पनास्तु पुरुषबुद्ध्यपेक्षाः. न वस्तुयाथात्म्यज्ञानं पुरुषबुद्ध्यपेक्षं, किन्तर्हि ? वस्तुतन्त्रमेव तत्... एवं भूतवस्तुविषयाणां प्रामाण्यं वस्तुतन्त्रम्” (ब्र.सू.शां.भा.१।१।२).

३ क. “यो वै सप्तदश प्रजापतिं यज्ञम् अन्वायत्तं वेद” (तैत्ति.संहि.६।११।१).

ख. “यज्ञो भूत्वा यज्ञम् आसीद स्वां योनिम्”, “विष्णुः यज्ञो देवताः च” (तैत्ति.ब्राह्म.२।५।८, गोप.ब्राह्म.२।१।१२).

ग. “त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म... ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि नामानि... रूपाणि... कर्माणि विभर्ति. तदेतत् त्रयं सद् एकम् अयम् आत्मा, आत्मा उ एकः सन् एतत् त्रयम्...” (बृह.उप.१।६।१-३).

४ “भावप्रधानम् आख्यातं सत्त्वप्रधानानि नामानि... ‘अदः’ इति सत्त्वानाम् उपदेशो ‘गौः’-‘अश्वः’-‘पुरुषो’-‘हस्ती’ इति, ‘भवति’ इति भावस्य ‘आस्ते’-‘शेते’-‘त्रजति’-‘तिष्ठति’ इति... षड् भावविकाराः भवन्ति इति वार्ष्पायणिः : ‘जायते’ ‘अस्ति’ ‘विपरिणमते’ ‘वर्धते’ ‘अपक्षीयते’ ‘विनश्यति’... अतो अन्ये भावविकाराः एतेषामेव विकाराः भवन्ति इति ह स्म आह” (निरु.निघ.१।१।१-३).

५ “ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतं ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना” (भग.गीता.४।२४).

६ “अहस्तानि सहस्तानाम्, अपदानि चतुष्पदां, फल्गूनि तत्र महतां, जीवो जीवस्य जीवनं, तदिदं भगवान्... एकः आत्मा आत्मनां स्वदृक्, अन्तरो अनन्तरो भाति पश्य तं मायया उरुधा”, “अनुसर्गं यथा शक्त्या ससर्ज भगवान् परः... अन्तःसमुद्राद् उन्मगनां ददृशुः गां द्रुमैः वृतां, द्रुमेभ्यः क्रुध्यमानाः ते... वायुम् अग्निञ्च ससृजुः तद्विधक्षया... ताभ्यां निर्दह्यमानान् तान् उपलभ्य... मन्तुं प्रशमयन्निव ‘मा द्रुमेभ्यो महाभागा दीनेभ्यो द्रोग्धुम् अर्हथ, विवर्धयिषवो यूयं प्रजानां पतयः स्मृताः. अहो प्रजापतिपतिः भगवान् हरिः अव्ययः वनस्पतीन् ओषधीः च ससर्ज ऊर्जमिषं विभुः, अन्नं, चरणाम् अचराः हि, अपदः पादचारिणाम्, अहस्ता हस्तयुक्तानां, द्विपदां च चतुष्पदः. यूयञ्च पित्रा अन्वादिष्टाः देवदेवेन च अनघाः प्रजासर्गाय हि कथं वृक्षान् निर्दग्धुम् अर्हथ ? आतिष्ठत सतां मार्गं कोपं यच्छत दीपितम्” (भाग.पुरा.१।१३।१४६-४७, ६।४।४-११).

७ “अहम् अन्नम्... अहम् अन्नादो... अहम् अन्नम् अदन्तं माम् अदमि. अहं विश्वं भुवनम् अभ्यभवाम. सुवर्नज्योतिः, यः एवं वेद” (तैत्ति.उप.३।४-६).

८ “यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैव अभूद् विजानतः तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वम् अनुपश्यतः” (ईशा.उप.७).

९ “पुरुषएव इदं सर्वं यद् भूतं यत् च भव्यम्. उत अमृतत्वस्य ईशानः यद् अन्नेन अतिरोहति” (पुरु.सू.१).

१० “एतावान् अस्य महिमा, अतो ज्यायान् च पुरुषः. पादो अस्य इह भूतानि त्रिपादस्य अमृतं दिवि” (यथापूर्वोद्धृत २).

११ “सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म”, “द्रव्यं कर्म च कालः च स्वभावो जीवएव च वासुदेवात् परो ब्रह्मन् नच अन्यो अर्थो अस्ति तत्त्वतः” (तैत्ति.उप.२।१, भाग.पुरा.२।५।१४).

१२ “किं कारणं ब्रह्म ? कुतः स्म जाता जीवामः ? केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः ? अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ?” (श्वेता.उप.१।१).

१३ “कालः स्वभावो नियतिः यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुषः इति च्छित्याः, संयोगः एषां नतु आत्मभावाद् आत्मापि अनीशः सुखदुःखहेतोः. ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैः निगूढां यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तानि अधितिष्ठति एकः” (श्वेता.उप.१।२-३).

- १४“सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वा अभिवदन् यद् आस्ते”(पुरु.सू.७).
- १५“एतावान् अस्य महिमा”(यथापूर्व).
- १६क.“ब्रह्म वा इदम् अग्रे आसीत् तद् आत्मानमेव अवेद ‘अहं ब्रह्म अस्मि’ इति तस्मात् सर्वम् अभवद्. तदिदमपि एतर्हि य एवं वेद ‘अहं ब्रह्म अस्मि’ इति स इदं सर्वं भवति”(बृह.उप.१।४।१०).
- ख.“एतदात्म्यम् इदं सर्वम्. तत् सत्यम्. स आत्मा तत् त्वम् असि”(छान्दो.उप.६।८।७).
- ग.“सर्वं खलु इदं ब्रह्म तज्जलान् इति शान्तः उपासीत”(छान्दो.उप.३।१४।१).
- १७“अन्धंतमः प्रविशन्ति ये अविद्याम् उपासते ततो भूयइव तमो ये उ विद्यायां रताः. विद्यां च अविद्यां च यः तद् वेद उभयं सह, अविद्याया मृत्युं तीर्त्वा विद्यया अमृतम् अश्नुते”(ईशा.उप.११).
- १८“‘अन्ध’इति अन्ननाम... तमोऽपि ‘अन्ध’ इति उच्यते न अस्मिन् ध्यानं न दर्शनम्”(निघ.निरु.५।१।१-२).
- १९“मृत्युर्वा असत् सद् अमृतम्”, “मृत्युर्वै तमो ज्योतिः अमृतम्”, “क्षरं प्रधानम् अमृतम् अक्षरम्”(बृह.उप.१।३।२८, श्वेता.उप.१।१०).
- २०“द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मर्त्यं च अमृतं च, सत् च त्यत् च”, “अमृतं चैव मृत्युः च सद् असत् च अहम्”, “मृत्युः सर्वहरः च अहम् उद्भवः च भविष्यताम्”(बृह.उप.२।३।१, भग.गीता.९।१९,१०।३४).
- २१“असन्नेव स भवति ‘असद् ब्रह्म’ इति वेद चेत्”(तैत्ति.उप.२।६).
- २२“सो अकामयत ‘बहु स्यां प्रजायेय’ इति... स तपः तप्त्वा इदं सर्वम् असृजत... सत् च असत् च... विज्ञानं च अविज्ञानं च सत्यं च अनृतं च”(तैत्ति.उप.२।६).
- २३“१ सदेव २ सत् ३ स्यात् सद् इति त्रिधा अर्थो मीयेत १ दुर्नीति-२ नय-३ प्रमाणैः”(अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका २८).
- २४क.“इन्द्रं मित्रं वरुणम् अग्निम् आहुः अथो दिव्यः स सुपर्णो गुरुत्मान्. एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानम् आहुः”(ऋक्संहि.२।३।२१).
- ख.“एकएव अग्निः बहुधा समिद्धः एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः, एकैव उषा सर्वम् इदं विभाति, एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्”(ऋक्संहि.६।४।२८).
- ग.“यत्र लोकान् च कोशान् च आपो ब्रह्म जना विदुः असच्च यत्र सच्च अन्तः... यस्मिन् भूमिः अन्तरिक्षं द्यौः यस्मिन् अध्याहिता, यत्र अग्निः चन्द्रमा सूर्यो वातः तिष्ठन्ति अर्पिताः... यत्र अमृतं मृत्युः च पुरुषे अधि समाहिते... यत्र आदित्याः च रुद्राः च वसवः च समाहिताः भूतं यत्र भव्यं च सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः... यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवाः अंगे गात्राः विभेजिरे तान् वै त्रयस्त्रिंशद् देवान् एके ब्रह्मविदो विदुः”(अथर्वसं.१०।२१-२३).
- घ.“यद् एकम् अव्यक्तम् अनन्तरूपं विश्वं पुराणं... तदेव अग्निः तद् वायुः तत् सूर्यः तद् चन्द्रमा तदेव शुक्रम् अमृतं तद् आपः स प्रजापतिः”(महाना.उप.१।१।७).
- २५“किंस्विद् वनं क उ स वृक्षः आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ? मनीषिणो मनसा पृच्छतेतु तद् यद् अध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ? (ऋग्वेद.१०।८।१।४).
- ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्षः आसीद् यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ! मनीषिणो मनसा वि ब्रवीमि वो ब्रह्म अध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ! (तैत्ति.ब्रा.२।८।१९।७).

(विवादास्पद सात मुद्दोंके श्रुतिआदि शास्त्रोंके द्रष्टव्य वचन)

१.(क)“विद्यां च अविद्यां यः तद् वेद उभयं सह”(ईशा.उप.११), (ख)“यस्मिन् विरुद्धगतयो ह्यनिशं पतन्ति विद्यादयो विविधशक्तयः आनुपूर्व्यात्, तद् ब्रह्म विश्वभवम् एकम् अनन्तम् आद्यम् आनन्दमात्रम् अविकारम्...” (भाग.पुरा.४।९।१६).

२.(क)“अजायमानो बहुधा विजायते”(तैत्ति.आर.३।१३।३) (ख)“आत्मैव तदिदं विश्वं सृज्यते सृजति

प्रभुः, त्रायते त्राति विश्वात्मा, हियते हरति ईश्वरः. तस्माद् नहि आत्मनो अन्यस्माद् अन्यो भावो निरूपितः”
(भाग.पुरा.११।२८।६-७).

३. “मृत्युः सर्वहरः च अहम् उद्भवः च भविष्यताम्” (भग.गीता.१०।३४).

४. “द्रव्यं कर्म च कालः च स्वभावो जीवएव च यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया. एको नानात्वम्
अन्विच्छन्... देवो मायया व्यसृजत् त्रिधा” (भाग.पुरा.२।१०।१२-१३).

५.(क) “एको देवः बहुधा निविष्टो अजायमानो बहुधा विजायते तमेतम् ‘अग्निम्’ इति आध्वर्यवः उपासते,
‘यजुः’ इति एषः हि इदं सर्वं युनक्ति, ‘साम’ इति छन्दोगाः एतस्मिन् हि इदं सर्वं प्रतिष्ठितम्, ‘विषम्’ इति सर्पाः,
‘सर्पः’ इति सर्पविदः, ‘ऊर्गु’ इति देवाः, ‘रयिः’ इति मनुष्याः, ‘माया’ इति असुराः, ‘स्वधा’ इति पितरः, ‘देवजनः’
इति देवजनविदः, ‘रूपम्’ इति गन्धर्वाः, ‘गन्धर्वः’ इति अप्सरसः. तं यथा-यथा उपासते तथैव भवति” (ख) “यो-
यो यां-यां तनुं भक्तः श्रद्धया अर्चितुम् इच्छति तस्य-तस्य अचलां श्रद्धां तामेव विदधामि अहम्. स तया श्रद्धया
युक्तः तस्य आराधनम् इष्यते लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्” (भग.गीता.७।२१).

६.(क) “आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन इति. एतं ह वाव न तपति किम् अहं साधु न अकरवं किम्
अहं पापम् अकरवम् इति” (तैत्ति.उप.२।१९), (ख) “गृहेषु आविशतां चापि पुंसां कुशलकर्मणां मद्वातार्तायातयामानां
न बन्धाय गृहाः मताः” (भाग.पुरा.४।३०।१९).

७.(क) “‘भगवान् सर्वभूतेषु लक्षितः स्वात्मना हरिः दृश्यैः बुद्ध्यादिभिः द्रष्टा लक्षणैः अनुमापकैः’ : प्रतिपुरुषं
प्रतिविषयं शास्त्राणि प्रसृतानि. तानि न सर्वथा बाधितविषयाणि, परस्परोपयोगात्. भगवान् तैः सर्वैरेव सर्वभूतेषु
लक्षितः लक्षणया ज्ञापितः. नैयायिकैः कर्तृत्वेन, मीमांसकैः क्रियात्वेन, वेदान्तैः आत्मत्वेन, सांख्यादिभिः करणत्वेन,
अन्यैः च तद्भेदैः ज्ञानत्वेन, ज्ञानत्वेन च अन्यैः, ज्ञानाधिष्ठातृत्वेन च. सर्वैरेव भगवान् एकदेशे लक्षितो
अन्धहस्तिवत्. अनुभवेन युक्त्या च...” (भाग.सुबो.२।२।३५), (ख) “श्रुत्यादिभेदेषु नानाप्रकारेण
प्रतिपादितत्वाद् अन्योन्यविरोधाद् न किञ्चित् प्रमाणं ब्रह्मणि भविष्यति इति आशंक्य आह ‘सर्ववादानवसरम्’ इति.
वस्तुतः श्रुतौ नानावाक्यानाम् एकवाक्यता निरूपिता सर्वभवनसामर्थ्येन विरुद्धधर्माश्रयत्वात्... एकैको वादो ब्रह्मणः
एकैकधर्मप्रतिपादकैकवाक्यशेषइति भगवान् तान् सर्वानेव अनुसरति” (त.दी.नि.१।७०).

गोस्वामी श्याम मनोहर

६३, स्वस्तिक सोसायटी, ४था रस्ता, जुहुस्कीम, पारले, मुंबई : ४०० ०५६